१

जीवन परिबोध का मार्ग : धर्म

वर्तमान युग में धर्म के नाम पर अनेक विवाद चल रहे हैं, अनेक प्रकार के संघर्ष सामने आ रहे हैं। ऐसी बात नहीं है कि अभी वर्तमान में ही ये विवाद और संघर्ष उभर आए हैं। प्राचीन और बहुत प्राचीन काल से ही 'धर्म' एक विवादास्पद प्रश्न रहा है, पूर्व से ही वह संघर्ष का कुरुक्षेत्र बना रहा है।

प्रत्यक्ष की बहुत-सी बातों को लेकर भी जब कभी-कभी विवाद उठ खड़े होते हैं, संघर्ष की बिजलियाँ कौंधने लग जाती हैं, तो जो अप्रत्यक्ष वस्तु है, उसके लिए विवाद खड़ा होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। वस्तुतः धर्म एक ऐसी आन्तरिक स्थिति है, जिसकी बाह्य स्थूल दृश्य पदार्थों के समान प्रत्यक्ष अनुभूति साधारण साधक को नहीं हो पाती। वह सिर्फ श्रद्धा और उपदेश के आधार पर ही धर्म के लिए चलता रहता है। यही कारण है कि परस्पर के मतभेदों के कारण धर्म के सागर में विवाद के तूफान मचल उठते हैं, तर्क-वितर्क का भंवर लहरा उठता है।

धर्म क्या है ?

मूल प्रश्न यह है कि धर्म क्या है ? अन्तर में जो पवित्र भाव-तरंगें उठती हैं, चेतना की निर्मल धारा बहती है, मानस में शुद्ध संस्कारों का एक प्रवाह उमड़ता है, क्या वही धर्म है ? या बाहर में जो हमारा कृतित्व है, क्रियाकांड हैं, रीति-रिवाज हैं, खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने के तौर-तरीके हैं, वे धर्म हैं ? हमारा आन्तरिक व्यक्तित्व धर्म है या बाह्य व्यक्तित्व ?

हमारे व्यक्तित्व के दो रूप हैं—एक आन्तरिक व्यक्तित्व है, जो वास्तव में, हम जैसे अन्दर में होते हैं, उससे निर्मित होता है। दूसरा रूप है—बाह्य व्यक्तित्व। हम जैसा बाहर में करते हैं, उसी के अनुरूप हमारा बाह्य व्यक्तित्व निर्मित होता है। हमारे समक्ष प्रश्न यह है कि 'होना' या 'करना' इनमें धर्म कौन-सा है ? व्यक्तित्व का कौन-सा रूप धर्म है ? अन्दर में होना धर्म है, अथवा बाहर में करना धर्म है ?

'होने' और 'करने' में बहुत अन्तर है। अन्दर में हम जैसे होते हैं, उसे बहुत कम व्यक्ति समझ पाते हैं। आन्तरिक व्यक्तित्व को पकड़ना उतना ही कठिन है, जितना पारे को अँगुलियों से पकड़ना। बाह्य व्यक्तित्व को पकड़ लेना बहुत सरल है, उतना ही सरल, जितना कि जल की सतह पर तैरती हुई लकड़ी को छू लेना। बाहर में जो आचार-व्यवहार होता है, उसे साधारण बुद्धि वाला भी शीघ्र ही ग्रहण कर लेता है, और उसे ही हमारे व्यक्तित्व का प्रतिनिधि रूप मान लेता है। आज बाहरी व्यक्तित्व ही हमारा धर्म बन रहा है।

जितने भी विवाद उठे हैं, संघर्ष उभरे हैं, मत और पंथ का विस्तार हुआ है, वे सब बाहर में धर्म को मान लेने से ही हुए हैं। दिगम्बर-श्वेताम्बर के रूप में जैन-धर्म के दो टुकड़े क्यों हुए ? बौद्धों के हीनयान और महायान तथा वैदिकों के शैव और वैष्णव मतों की बात छोड़िए, हम अपने घर की ही चर्चा करें कि आखिर कौन-सा जागीरी, जमींदारी का झगड़ा हुआ कि एक बाप के दो बेटे अलग-अलग खेमों में जा डटे और एक-दूसरे से झगड़ने लगे। श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्यों ने एक ही बात कही है कि मन में निष्कामता और निस्पृहता का भाव हो, वीतराग दशा में स्थिरता हो, करुणा और परोपकार की वृत्ति हो, संयम एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सदाचारमय जीवन हो, यही धर्म है। श्वेताम्बर और दिगम्बर सभी इस तथ्य को एक स्वर से स्वीकार करते हैं, कोई आनाकानी नहीं है। प्रश्न है, फिर झगड़ा क्या है? किस बात को लेकर द्वन्द्व है, संघर्ष है?

मैं सोचता हूँ, यदि एक-दूसरे को ठीक से अन्दर में समझने का प्रयत्न किया जाता, तो विवाद जैसा कोई प्रसंग ही नहीं था। पर, विवाद हुआ धर्म को बाहर में देखने से। श्वेताम्बर मुनि वस्त्र रखते हैं, तो क्या यह अधर्म हो गया? इसके लिए तर्क है कि वस्त्र आत्मा से भिन्न बाहर की पौद्गलिक चीज है, अतः वह परिग्रह है, और यदि परिग्रह है, तो फिर साधुता कैसी? परन्तु उधर दिगम्बर मुनि भी तो कुछ वस्तुएँ रखते हैं—मोरपिच्छी, कमण्डल, पुस्तक आदि। इसके लिए कहा जाता है कि इन पर हमारी ममता नहीं है, जीवरक्षा एवं शरीर शुद्धि आदि के लिए ही यह सब है, इसलिए यह अधर्म नहीं है, तो मैं सोचता हूँ यदि यही बात वस्त्र के सम्बन्ध में भी समझ ली जाती, तो क्या हर्ज था? श्वेताम्बर मुनि भी तो यही बात कहते हैं—"वस्त्र पर हमारी ममता नहीं है। यह केवल लोक मर्यादा एवं शीतादि निवारण के लिए है, अनाकुलता केलिए है, और कुछ के लिए नहीं।"

धर्म और उपवास :

भोजन नहीं करने का उद्देश्य क्या है? उपवास आदि क्यों किए जाते हैं? उनका उद्देश्य क्या है? शान्ति और समाधि की प्राप्ति ही न! और, भोजन करने का उद्देश्य भी शान्ति और समाधि को बनाये रखना ही है। तब तो हमारा केन्द्र एक ही हुआ। और इस केन्द्र पर खड़े होकर ही हम सोच रहे हैं कि उपवास आदि तप के समान भोजन भी अनाकुलता का साधन होने से साधना है, धर्म है। जहाँ तक मेरा अध्ययन एवं अनुभव है, यह समग्र भारतीय-दर्शन का मान्य तथ्य है। संत कबीर ने भी कहा है—

> **"कबिरा छुधा कूकरी, करत भजन में भंग।**
> **या को टुकड़ा डारिके, भजन करो नीशंक॥"**

भूख एक कुतिया है, यह शोर करती है, तो शान्ति भंग होती है, ध्यान स्खलित हो जाता है, अतः इसे भोजन का टुकड़ा डाल दो और फिर शान्ति से अपनी साधना करते रहो।

धर्म का बाह्य अतिवाद :

भोजन के सम्बन्ध में जो सर्वसम्मत विचार है, काश! वही विचार यदि वस्त्र के सम्बन्ध में भी किया जाता, तो इस महत्त्वपूर्ण परम्परा के दो टुकड़े नहीं हुए होते। जिन साधक आत्माओं को वस्त्र के अभाव में भी शान्ति रह सकती हो, आकुलता नहीं जगती हो, तो उनके लिए वस्त्र की बाध्यता नहीं है। किन्तु, वस्त्र के अभाव में जिनकी शांति भंग होती हो, उन्हें समभावपूर्वक वस्त्र-धारण करने की अनुमति दी जाए, तो इसमें कौन-सा अधर्म हो जाता है? भगवान् महावीर के समय में सचेलक और अचेलक (सवस्त्र और अवस्त्र) दोनों परम्पराएँ थीं। तब न निर्वस्त्र होने का आग्रह था और न सवस्त्र होने का। न वस्त्र से मुक्ति अटकती थी और न अवस्त्र से। वस्त्र से मुक्ति तब अटकने लगी, जब हमारा धर्म बाहर में अटक गया, अन्दर में झाँकना बन्द कर दिया गया।

वैष्णव परम्परा भी इसी प्रकार जब बाहर में अटकने लगी, तो उसका धर्म भी बाहर में अटक गया और वह एक बुद्धिवादी मनुष्य के लिए निरा उपहास बनकर रह गया। अतीत में तिलक को लेकर वैष्णव और शैव भक्त कितने झगड़ते रहे हैं, परस्पर कितने टकराते रहे हैं? कोई सीधा तिलक लगाता है, तो कोई टेढ़ा, कोई त्रिशूल मार्का, तो कोई यू (U) मार्का और कोई सिर्फ गोल बिन्दु ही। और, तिलक को यहाँ तक तूल दिया गया कि तिलक लगाए बिना मुक्ति नहीं होती। तिलक लगा लिया, तो दुराचारी की आत्मा को भी वैकुण्ठ का रिजर्वेशन मिल गया!

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैष्णव परम्परा में एक कथा आती है—एक दुराचारी वन में किसी वृक्ष के नीचे सोया था। वहीं सोये-सोये उसके हाथ-पैर ठंडे पड़ गए और प्राण कूच कर गए। वृक्ष की टहनी पर एक चिड़िया बैठी थी, उसने दुराचारी के मस्तक पर बींट कर दी। इधर दुराचारी की आत्मा को लेने के लिए यम के दूत आये, तो उधर विष्णु के दूत भी आ पहुँचे। यमदूतों ने कहा—यह दुराचारी था, इसलिए इसे नरक में ले जाएँगे। इस पर विष्णु के दूत बोले—चाहे कितना ही दुराचारी रहा हो, पर इसके माथे पर तिलक लगा है, इसलिए यह स्वर्ग का अधिकारी हो गया। दोनों दूतों में इस पर खूब गर्मागर्म बहसें हुई, लड़े-झगड़े, आखिर विष्णु के दूत उसे स्वर्ग में ले ही गए। दुराचार-सदाचार कुछ नहीं, केवल तिलक ही सब-कुछ हो गया, वही बाजी मार ले गया। तिलक भी विचारपूर्वक कहाँ लगा? वह तो चिड़िया की बींट थी। कुछ भी हो तिलक तो हो गया?

सोचता हूँ, इन गल्पकथाओं का क्या उद्देश्य है? जीवन-निर्माण की दिशा में इनकी क्या उपयोगिता है? मस्तक पर पड़ी एक चिड़िया की बींट को ही तिलक मान लिया गया, तिलक होने मात्र से ही दुराचारी की आत्मा को स्वर्ग का अधिकार मिल गया! धर्म की तेजस्विता और पवित्रता का इससे बड़ा और क्या उपहास होगा?

इस प्रकार की एक नहीं, सैकड़ों, हजारों अन्ध-मान्यताओं से धार्मिक-मानस ग्रस्त होता रहा है। जहाँ तोते को राम-राम पढ़ाने मात्र से वेश्या को वैकुण्ठ मिल जाता है, सीता को चुराकर राम के हाथ से मारे जाने पर रावण की मुक्ति हो जाती है, वहाँ धर्म के आन्तरिक स्वरूप की क्या परख होगी?

धर्म के ये कुछ रूढ़ रूप हैं, जो बाहर में अटके हुए हैं, और मानव-मन इन्हीं की भूलभुलैय्या में भटक रहा है। हम भी, हमारे पड़ोसी भी, सभी एक ऐसे दल-दल में फँस गए हैं कि धर्म का असली किनारा आँखों से ओझल हो रहा है और जो किनारा दिखाई दे रहा है, वह सिर्फ अन्ध-विश्वास और गलत मान्यताओं की शैवाल से ढ़का हुआ अथाह गर्त है।

बौद्ध परम्परा में भिक्षु को चीवर धारण करने का विधान है। चीवर का मतलब है, जगह-जगह पर सिला हुआ जीर्ण वस्त्र, अर्थात् कन्था! इसका वास्तविक अर्थ तो यह था कि जो फटा-पुराना वस्त्र गृहस्थ के लिए निरुपयोगी हो गया हो, वह वस्त्र भिक्षु धारण करे। पर, आज क्या हो रहा है? आज भिक्षु बिल्कुल नया और सुन्दर वस्त्र लेते हैं, बढ़िया रेशमी! फिर उसके टुकड़े-टुकड़े करते हैं, और उसे सीते हैं, और इस प्रकार चीवर की पुरानी व्यवस्था को कायम रखने के लिए उसे चीवर मान कर ओढ़ लेते हैं।

धर्म की अन्तर्दृष्टि :

ये सब धर्म को बाहर में देखने वालों की परम्पराएँ हैं। वे बाहरी क्रिया को, रीति-रिवाज, पहनाव और बनाव आदि को ही धर्म समझ बैठे हैं, जबकि ये तो एक सभ्यता और कुलाचार की बातें हैं।

बाहर में कोई नग्न रहता है, या श्वेत वस्त्र धारण करता है, या गेरुआं चीवर पहनता है, तो धर्म को इनसे नहीं तोला जा सकता। वेषभूषा, बाहरी व्यवस्था और बाहरी क्रियाएँ कभी धर्म का पैमाना नहीं हो सकती। इनसे जो धर्म को तोलने का प्रयत्न करते हैं, वे वैसी ही भूल कर रहे हैं, जैसी कि मणिमुक्ता और हीरों का वजन करने के लिए पत्थर और कोयला तोलने के काँटे का इस्तेमाल करने वाला करता है।

धर्म का दर्शन करने की जिन्हें जिज्ञासा है, उन्हें इन बाहरी आवरणों को हटाकर भीतर में झाँकना होगा। क्रिया-काण्डों की बाह्य भूमिका से ऊपर उठकर जीवन की आन्तरिक भूमिका तक चलना होगा। आचार्य हरिभद्र ने कहा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"सेयंबरो य आसंबरो य,
बुद्धो व अहव अन्नो वा।
समभावभावियप्पा,
लहई मोक्खं न संदेहो।।"

कोई श्वेताम्बर हो, या दिगम्बर हो, जैन हो, या बौद्ध अथवा वैष्णव हो। ये कोई धर्म नहीं हैं, मुक्ति के मार्ग नहीं हैं। धर्म कोई दस हजार, या दो हजार वर्ष के परम्परागत प्रचार का परिणाम नहीं है, वह तो एक अखंड, शाश्वत और परिष्कृत विचार है और हमारी विशुद्ध आन्तरिक चेतना है। मुक्ति उसे ही मिल सकती हैं, जिसकी साधना समभाव से परिपूर्ण है, जो दुःख में भी और सुख में भी सम है, निर्द्वन्द्व है, वीतराग है। आप लोग वर्षा के समय बरसाती ओढ़कर निकलते हैं, कितना ही पानी बरसे, वह भींगती नहीं, गीली नहीं होती, पानी बह गया और बरसाती सूखी की सूखी। साधक का मन भी बरसाती के समान हो जाना चाहिए। सुख का पानी गिरे या दुःख का, मन को भींगना नहीं चाहिए। यही द्वन्द्वों से अलिप्त रहने की प्रक्रिया, वीतरागता की साधना है। और, यही वीतरागता, हमारी शुद्ध अन्तश्चेतना धर्म है।

धर्म के रूप :

जैनाचार्यों ने धर्म के सम्बन्ध में बहुत ही गहरा चिंतन किया है। वे मनन-चिन्तन की डुबकियाँ लगाते रहे और साधना के बहुमूल्य चमकते मोती निकालते रहे। उन्होंने धर्म के दो रूप बताए हैं—एक निश्चय धर्म और दूसरा व्यवहार धर्म। किन्तु वस्तुतः धर्म दो नहीं होते, एक ही होता है। किन्तु, धर्म का वातावरण तैयार करनेवाली तथाप्रकार की साधन-सामग्रियों को भी धर्म की परिधि में लेकर, उसके दो रूप बना दिए हैं।

व्यवहार-धर्म का अर्थ है, निश्चय-धर्म तक पहुँचने के लिए पृष्ठभूमि तैयार करने वाला उप-धर्म। साधना की उत्तरोत्तर प्रेरणा जगाने के लिए और उसका अधिकाधिक प्रशिक्षण (ट्रेनिंग) लेने के लिए व्यवहार-धर्म की आवश्यकता है। यह एक प्रकार का स्कूल है। स्कूल ज्ञान का दावेदार नहीं होता, किन्तु ज्ञान का वातावरण जरूर निर्माण करता है। स्कूल में आने वाले के भीतर प्रतिभा है, तो वह विद्वान् बन सकता है, ज्ञान की ज्योति प्राप्त कर सकता है। और, यदि निरा बुद्धुराज है, तो वर्षों तक स्कूल की बैंचें तोड़ने के बाद भी वैसा का वैसा ही रहेगा। स्कूल में यह शक्ति नहीं कि किसी को विद्वान् बना ही दे। यही बात व्यवहार-धर्म की है। बाह्य क्रियाकांड किसी का कल्याण करने की गारण्टी नहीं दे सकता। जिस साधक के अन्तर् में, अंशतः ही सही, निश्चय धर्म की जागृति हुई है, उसी का कल्याण हो सकता है, अन्यथा नहीं। हाँ, परिस्थितियों के निर्माण में व्यवहार धर्म का सहयोग अवश्य रहता है।

वर्तमान परिस्थितियों में हमारे जीवन में निश्चय-धर्म की साधना जगनी चाहिए। व्यवहार-धर्म के कारण जो विकट विवाद, समस्याएँ और अनेक सरदर्द पैदा करने वाले प्रश्न कौंध रहे हैं, उनका समाधान सिर्फ निश्चय-धर्म की ओर उन्मुख होने से ही हो सकता है।

आज का धार्मिक जीवन उलझा हुआ है, सामाजिक जीवन समस्याओं से घिरा है, राजनीतिक जीवन तनाव और संघर्ष से अशान्त है। इन सबका समाधान एक ही हो सकता है और वह है निश्चय-धर्म की साधना अर्थात् जीवन में वीतरागता, अनासक्ति!

वीतरागता का दृष्टिकोण व्यापक है। हम अपनी वैयक्तिक, सामाजिक एवं साम्प्रदायिक मान्यताओं के प्रति भी आसक्ति न रखें, आग्रह न करें, यह एक स्पष्ट दृष्टिकोण है। सत्य के लिए आग्रही होना एक चीज है और मत के लिए आग्रही होना दूसरी चीज। सत्य का आग्रह दूसरे के सत्य को ठुकराता नहीं, अपितु सम्मान करता है। जबकि मत का आग्रह दूसरे के अभिमत सत्य को सत्य होते हुए भी ठुकराता है, उसे लांछित करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्य के लिए संघर्ष करने की आवश्यकता नहीं होती, उसके लिए साधना करनी पड़ती है। मन को समता और अनाग्रह से जोड़ना होता है।

सामाजिक सम्बन्धों में वीतरागता का अर्थ होता है—आप अपने सुख के पीछे पागल नहीं रहें, धन और परिवार के व्यामोह में फँसें नहीं। आपका मन उदार हो और सहानुभूति-पूर्ण हो, दूसरे के लिए अपने सुख का त्याग करने को प्रस्तुत हों, तो सामाजिक क्षेत्र में भी निश्चय धर्म की साधना हो सकती है।

राजनैतिक जीवन भी आज आसक्तियों के गन्दे जल में कुलबुला रहा है। विचारों की आसक्ति, पद और प्रतिष्ठा की आसक्ति, कुर्सी की आसक्ति! दल और दल से मिलने वाले फल की आसक्ति! जीवन का हर कोना आसक्तियों से जकड़ा हुआ है—फलतः जीवन संघर्षमय है।

धर्म का वास्तविक रूप यदि जीवन में आ जाए, तो यह सब विवाद सुलझ सकते हैं, सब प्रश्न हल हो सकते हैं और धर्म फिर एक विवादास्पद प्रश्न के रूप में नहीं, बल्कि एक सुनिश्चित एवं सुनिर्णीत जीवन-दर्शन के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होगा।

कर्तव्य और धर्म :

धर्मनिष्ठ व्यक्ति वह है, जिसे कर्तव्य-पालन का दृढ़ अभ्यास है। जो व्यक्ति संकट के विकट क्षणों में भी अपने कर्तव्य का परित्याग नहीं करता, उससे बढ़कर इस जगती-तल पर अन्य कौन धर्मशील हो सकता है? कर्तव्य और धर्म में परस्पर जो सम्बन्ध है, वह तर्कातीत है, वहाँ तर्क की भी पहुँच नहीं है। कर्तव्य-कर्मों के दृढ़ अभ्यास से, सतत अनुष्ठान से धार्मिक प्रवृत्तियों का उद्भव होता है। अभ्यास के द्वारा धीरे-धीरे प्रत्येक कर्तव्य, धर्म में परिणत हो जाता है। कर्तव्य, उस विशेष कर्म की ओर संकेत करता है, जिसे मनुष्य को अवश्य करना चाहिए। कर्तव्य करने के अभ्यास से, धर्म की विशुद्धि बढ़ती है, अतः यह कहा जा सकता है कि धर्म और कर्तव्य एक-दूसरे के पूरक हैं, एक-दूसरे के विघटक नहीं। क्योंकि धर्म का कर्तव्य में प्रकाशन होता है और कर्तव्य में धर्म की अभिव्यक्ति होती है। धर्म क्या है, इस सम्बन्ध में पौर्वात्य एवं पाश्चात्य सभी आत्म-लक्षी विद्वानों का एक मत है कि धर्म मनुष्य के मन की दुष्प्रवृत्तियों और वासनाओं को नियंत्रित करने एवं आत्मा के समग्र शुभ का लाभ प्राप्त करने का एक अभ्यास है। धर्म चरित्र की उत्कृष्टता है। अधर्म चरित्र का कलंक है। कर्तव्य-पालन में धर्म का प्रकाशन होता है, इसके विपरीत पापकर्मों में अधर्म उद्भूत होता है। धर्म आत्मा की एक स्वाभाविक वृत्ति का नाम है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org